International Research Journal of Humanities, Language and Literature ISSN: (2394-1642)
Impact Factor 5.401 Volume 4, Issue 12, December 2017
Website-www.aarf.asia, Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

भारतीय संस्कृति, साहित्य और आधुनिकतावाद

डॉ॰ जगतनारायण
माँ दुर्गानगर, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

शोध-आलेख सार

आज भारतीय साहित्य में भारतीय संस्कृति में तथा विशेष रूप से इस कर्त्तव्य कर्म को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता है । कर्त्तव्यहीन मानव का न शरीर स्वस्थ रहता है न मन मस्तिष्क । अतएव व्यक्ति को सतत नियत कर्त्तव्य-कर्म करना चाहिए । अपने कर्त्तव्य कर्म पर चलना चाहिए तथा लोक कल्याणार्थ अपने आत्म तत्त्व का विस्तार करना चाहिए - यही मानव धर्म है, यही युगीन आवश्यकता है और यही लोक धर्म भी है । सामाजिक सेवा ही लोक सेवा है, लोक सेवा ही धार्मिक सेवा है । धार्मिक सेवा ही राष्ट्रीय सेवा है । सर्व कल्याण हेतु व्यष्टि मानव समष्टि मानव बन जाता है - यही वास्तव में शिव का शिव्त्व है और वास्तविक स्वरूप है । सत्कर्म ही शिवत्व की वास्तविक शक्ति है अन्यथा की स्थिति में शिव शिव नहीं अशिव है । साहित्य सरसता का तात्पर्य होता है, सौन्दर्य का वाचक होता है और शिवम् का उपासक होता है । सम्प्रति इसी साहित्य-साधना की नितान्त आवश्यकता है । इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं कम्प्यूटराइड प्रगति के परिणामस्वरूप पाश्चात्य संस्कृति आधुनिकतावाद ने भारतीय संस्कृति को विकृत की स्थिति में ला दिया है । भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य दोनों प्रदूषित वातावरण के शिकार हो रहे हैं । साहित्यकारों, साहित्य चिन्तकों एवं साहित्य शुभैषियों को भारतीय पुरातन संस्कृति के अनुसार अद्यतन परिवेश में साहित्य सर्जना की आवश्यकता है ताकि सद्-साहित्य सर्जना सम्भव हो सके ।

मुख्य-शब्द : साहित्यकारों, साहित्य-साधना, भारतीय संस्कृति, साहित्य ।

भारतीय साहित्य और संस्कृति युगों पुरानी है । समन्वयवादी, सामंजस्यवादी प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय संस्कृति विश्व में वरेण्य है, वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है । इतिहासकार डाडवेल के अनुसार, 'भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है', जिसमें अनेक नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही हैं ।' सम्प्रति अन्तर-सांस्कृतिक भावना विकसित करना भी आवश्यक है ताकि अपनी संस्कृति के अतिरिक्त अन्य संस्कृतियों के महत्त्व को भी समझना और उसके प्रति आदर सम्मान की भावना रखना ही आवश्यक है ताकि अन्तर-सांस्कृतिक भावना से प्रेरित होकर साहित्यकार

© Associated Asia Research Foundation (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

सांस्कृतिक विभिन्नता, धार्मिक अहिष्णुता, पारस्परिक विद्वेष एवं मानसिक संकीर्णता का परित्याग करके राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके और कालजयी साहित्य-सृजन हो सके । साहित्य का ध्येय व्यापक और विशाल होना चाहिए । एकता और राष्ट्रीयता तथा त्याग और सहिष्णुता की भावना का विकास करना ही साहित्यिक कर्म और धर्म है तथा सत्-साहित्य का मर्म भी है । यह आज के साहित्य की महती आवश्यकता है ।

समाज और राष्ट्र में सर्वत्र मूल्यों का ह्रास दिखाई दे रहा है । पुराने मूल्य विलुप्त हो रहे हैं और नए मूल्य स्थापित होने की दशा में नहीं हैं क्योंकि वे बलहीन हैं ।ऐसी विषम स्थिति में समाज और राष्ट्र संगठित रहें, सुदृढ़ एवं सशक्त बनें । सम्प्रति जगह-जगह आए दिन धरना, प्रदर्शन, हड़ताल, सार्वजनिक सम्पत्ति का विनाश, राष्ट्रव्यापी किसान आंदोलन, आरक्षण आंदोलन आदि से अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है जो न तो जनहित में हैं और राष्ट्रहित में । सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र व्याप्त भ्रष्टाचार, अराजकता, असहिष्णुता साम्प्रदायिक तनाव आदि को दृष्टिगत रखते हुए साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य-कर्म और धर्म बनता है, दायित्व है कि इस दिशा में लेखनी को हथियार की तरह प्रयोग करें तथा सद्भाव और मैत्री का वातावरण निर्मित कर सहिष्णुता की वेदी पर राष्ट्र की स्थापना करें -यह संकल्प इस समस्या का विकल्प भी है ।

साहित्य सदैव से संस्कृति का संरक्षक रहा है और सम्प्रति संरक्षण देने में सक्रिय भूमिका निर्वहन कर रहा है । संस्कार सदैव संचित होते रहते हैं और यही संचित सामग्री संस्कृति का रूप धारण करती है । चिरकाल से संस्कृति का संरक्षण करना साहित्य का ध्येय रहा है । समाज ने अपने सदस्यों को अपनी संस्कृति का ज्ञान कराने, उसकी रक्षा करने तथा उसे बल-ऊर्जा प्रदान करने हेतु साहित्यकार दिये हैं जिनका पुनीत दायित्व उसका संरक्षण करना, विकसित करना तथा उसे सबल बनाना है । आज के परिवेश में इसी प्रकार के साहित्यकार और साहित्य की आवश्यकता है जो राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें । संस्कृति सदैव सन्तुलन बनाने का प्रयास करती है । साहित्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है । संस्कृति के प्रचार-प्रसार के साथ उसका विकास भी करता है और संरक्षण भी प्रदान करता है । साहित्य युगीन आकांक्षा और अभिलाषा की पूर्ति हेतु, संस्कृति को नया स्वरूप भी प्रदान करता है । नए संबंध सूत्रों को दर्शाता है, खोज करता है तथा उन्हें व्यावहारिक धरातल पर स्थापित करने का प्रयास करता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने का साधन भी साहित्य ही है जिससे संस्कृति धीरे-धीरे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है । सांस्कृतिक परम्पराओं का संरक्षण और प्रसार-प्रचार साहित्य के अतिरिक्त अन्य अनियमित संस्थाएँ नहीं कर सकतीं जितनी सक्रियता के साथ साहित्य करता है । युगीन आवश्यकतानुसार संस्कृति का विकास आवश्यक हो गया है जिसके लिए साहित्य-सजना परमावश्यक है । यह विकास नए अनुभवों, नए प्रतिमानों एवं अवधारणाओं के आधर पर ही संभव है । साहित्य ही एक ऐसा सबल और सक्षम साधन है जिसके माध्यम से जीवन और जगत के नए-नए अनुभव सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में काम्य सिद्ध होते हैं । साहित्यकार राष्ट्रीय परम्पराओं को दृष्टिगत रखते हुए साहित्य-सर्जन करता है ।

साहित्य का धर्म राष्ट्रोत्थान, सामाजिकोत्थान एवं मानवोत्थान है । धर्म का सीधा अर्थ - 'धारणाद् धर्म इति आहु:'[1] अर्थात् मानव को जो धारण करने योग्य है - वही उसका धर्म है । जीवन की सभी मान्यताएँ जो उत्कृष्ट हैं, आदर्शमय हैं - वे धर्म के अंतर्गत आती हैं । अतएव धर्म का अर्थ बहुत व्यापक और विस्तृत हैं । जो प्रकारान्तर से कर्त्तव्य-कर्म, दायित्व बोध आदि

को पारिभाषित करता है । धर्म हमें सहनशीलता, सहिष्णुता, समानता, मानवता आदि का पाठ पढ़ाता है, सिखाता है । साहित्य मुख्य रूप से किसी जाति की सांस्कृतिक परम्परा की निरन्तरता बनाए रखने में सहायक सिद्ध होता है । साहित्य सांस्कृतिक चेतना मुखरित करता है । संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने, उसको सबल और सशक्त बनाने हेतु सद्सुझाव भी साहित्य देता है । समय-समय पर संस्कृति में भी परिमार्जन की आवश्यकता होती है जिसका दिग्दर्शन साहित्य ही करता है । साहित्य के अभाव में विभिन्न जातियों की सांस्कृतिक परम्पराएं विलुप्त हो गई तथा नष्ट भी हो गई तथा नष्ट भी हो गई । इस प्रकार सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा भी साहित्य ही करता है । किसी भी समाज की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करने में साहित्य की अहम भूमिका होती है तथा विशेष योगदान रहता है । संस्कृति के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का आंकलन और प्रस्तुतीकरण साहित्य के द्वारा ही संभव है ।

वस्तुतः संस्कृति का आशय समाज में रहने का ढंग है जिसे 'वे ऑफ लिविंग' कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म समाज में होता है तथा समाज में रहकर ही उसका लालन-पालन, भरण-पोषण एवं विकास होता है । समाज में रहने के साथ-साथ व्यक्ति मानव अपने अस्तित्व बनाए रखने तथा उसकी रक्षा करने हेतु पूर्ण रूप से संगठित होने तथा निश्चित करने का प्रयास करता है । समाज की इस निश्चित और संगठित व्यवस्था को ही वास्तव में संस्कृति कहते हैं । संस्कृति के अन्तर्गत रीति-रिवाज, कला, विज्ञान, परम्पराएँ, सामाजिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था, मर्यादाओं का अनुपालन आदि आते हैं ।

संस्कृति ही हमारे संस्कारों का परिष्कार करती है तथा हमें संस्कारवान् बनाती है । वास्तव में मानव के सुन्दर संस्कारों का परिणाम ही उसका सुसंस्कृत होना है जिससे हमारी सांस्कृतिक चेतना की निर्मिति होती है । यह सांस्कृतिक चेतना ही हमारी संस्कृति की वास्तविक पूँजी हैं। सांस्कृतिक चेतना व्यक्तिगत होते हुए भी समष्टिगत बन जाती है । संस्कृति का सदरलैण्ड व वुडवर्ड ने इन शब्दों में परिभाषित किया है, 'संस्कृति में कोई भी बात आ सकती है, जिसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जा सकता है । किसी भी राष्ट्र की संस्कृति उसकी सामाजिक विरासत है । रोसेक के अनुसार 'संस्कृति की साधारण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है - किसी विशेष समय और स्थान में निवास करने वाले विशेष व्यक्तियों के जीवन व्यतीत करने की सामूहिक क्रिया विधि । इ० बी० टेलर के शब्दों में 'संस्कृति यह विषम समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, सामाजिक प्रथाएँ और आदतें सम्मिलित की जा सकती है, इन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में प्राप्त करता है ।

भारतीय संस्कृति वैश्विक संस्कृति है । अपनी सांस्कृतिक चेतना के कारण ही भारत विश्व का गुरु है । भारतीय संस्कृति में वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना परिव्याप्त है । कहा गया है कि -

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।[2]

भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को एक नीड़ के रूप में स्वीकारती है । में स्पष्ट उल्लेख है कि,

वेनस् तत पश्यन निहितम् गृहा सद् ।
यत्र विश्व भवति एक नीडम् ।।[3]

संस्कृति मुख्य रूप से दो स्तरों में देखी जा सकती है - प्रथम भौतिक और द्वितीय अभौतिक । भौतिक संस्कृति मूर्त वस्तुओं से संबंधित होती है तथा जिनका सरोकार मानव के द्वारा बनाई गई वस्तुओं से होता है । अभौतिक संस्कृति में वे सभी बातें सम्मिलित हैं जिनका स्वरूप अमूर्त होता है तथा जो साहित्य धर्म, भाषा, कला, संगीत, रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ, आचार-विचार, प्रथाएँ आदि से संबंधित होती हैं । भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक चेतना किसी न किसी रूप में मुखरित हुई है । यह सांस्कृतिक चेतना ही आध्यात्मिक चिन्तन को वाणी देती है । हमारा साहित्य वास्तव में धर्ममूलक हैं । बाह्य जगत के पीछे जो चिरन्तन सत्ता विद्यमान हैं, वही वास्तविक शक्ति है । भारतीय संस्कृति में सम्पूर्ण सृष्टि एक परम तत्त्व से निर्मित मानी जाती है । परम तत्त्व ब्रह्म ही आत्मा को एकता को घोषित करता है । वही परम तत्त्व ब्रह्म विश्व व्यापक है । भारतीय संस्कृति में इसी सत्ता की सर्वत्र अनुभूति की जाती है । मुंडकोपनिषद् में कहा गया है कि,

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यो दिशः श्रोते वाक् विवृत्तश्च वेदाः।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्म्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।।[4]

भारतीय संस्कृति ब्रह्म बोध एवं आत्म ज्ञान पर बल देती है । धर्म और दर्शन का इसमें अद्भुत समन्वय है । लौकिक एवं पारलौकिक, उन्नति एवं विकास ही परम धर्म है । इस धर्म का मूल या जड़ वेद है, मनु महाराज ने कहा है - 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[5] वैशेषिक में कहा गया है कि, 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः ।' भारतीय धर्म की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति गीता में देखने को मिलती है । स्वधर्म पालन करके मोक्ष-सिद्धि पाने का उपदेश और संदेश भी गीता में दिए गए हैं । पुराण भी समन्वयात्मक धर्म का संदेश देते हैं । रामायण, महाभारत आदि पौराणिक धर्मग्रंथ भारतीय संस्कृति एवं धर्म के सर्वांगीण विकास के दिशासूचक हैं तथा विश्वकोष सिद्ध हुए हैं । विश्वबन्धुत्व की भावना के मूल में व्यापक मानव धर्म ही है । उपनिषद् का संदेश हमें विश्वात्मा का उपदेश देता है । हमें अपनी आत्मा को विश्व में और विश्व को अपनी आत्मा में देखने का संकेत भी देता है । 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' - ही वास्तव में हमारी विश्व मानवतावादी दृष्टि की उर्वरा भूमि है । विश्वबनधुत्व का अमर संदेश वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत आदि ग्रंथोंमें देखने को मिलता है । भारतीय साहित्य के स्वरूप विकास पर भारतीय तत्त्व ज्ञान का प्रभाव देखने को मिलता है । भारतीय संस्कृति निराशा में आशा, विपत्ति में संपत्ति, अंधकार में प्रकाश आदि की अनुभूति कराती है तथा आध्यात्मिकता का संदेश देती है । संघर्ष में हर्ष, पराजय में विजय का आलोक भी भारतीय संस्कृति प्रसारित करती है । भारतीय साहित्य का मुख्य उद्देश्य सुखानुभूति तथा आनन्दानुभूति कराना है । जीवन की विषम परिस्थितियों में आनंद की खोज ही भारतीय साहित्य की मूल प्रवृत्ति रही है । यह आनंद सत्, चित्, का स्वरूप बनकर सच्चिदानंद के रूप में परिणत हो जाता है । काव्य की आत्मा भारतीय साहित्य में रस को ही स्वीकार किया गया है । पाठक और श्रोता के हृदय में रस का संचार करना ही आनन्द का उन्मेष है जो भारतीय साहित्य का उद्देश्य भी है ।

उपनिषद् का उपदेश और संदेश भी हमें विश्वात्मा बनने की प्रेरणा देता है । यही कारण है कि हम अपनी आत्मा को विश्व में और विश्व को अपनी आत्मा में देखते हैं । 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' ही वास्तव में हमारी विश्व मानवतावादी दृष्टि की उर्वरा भूमि सिद्ध हुई है । विश्वबन्धुत्व की भावना का अमर संदेश हमारे सभी धार्मिक और पौराणिक ग्रंथों ने दिया है ।

साहित्यकारों, साधु-संन्यासियों, चिन्तकों, दार्शनिकों आदि ने आनन्द तत्त्व की खोज के लिए ही सत्य को जानने की भरसक कोशिश की है । जीवन के संस्कारों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है जिसके मूल में सत्य की ही सत्ता है । जीव और जगत के बीच संबंध स्थापित करने वाला चेतन तत्त्व सत्य ही है । आज के वैज्ञानिक युग में जब हम परमाणुओं की खोज करते हैं तो पाते हैं कि परमाणु एकमात्र विद्युत तरंग के रूप में सकारात्मक और नकारात्मक रूप में विद्यमान रहते हैं । दूसरे शब्दों में भारतीय मनीषी में मंत्र दिया गया है, 'ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्' - अर्थात् इस संसार में सर्वत्र एक ही तत्त्व ईश्वरत्व के रूप में व्याप्त है । अभेद की प्रतीति ही सत्य की अनुभूति है । आज के वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति के युगमें यह सत्यनितांत आवश्यक है । सत्य के अभाव में कोई भी कार्य सुन्दन नहीं बन सकता और जब सुन्दर नहीं बन सकता तो वह कल्याणकारी भी नहीं हो सकता । इसलिए कहा गया है कि सत्य सुन्दर होता है और जन कल्याणकारी होता है । 'सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति ही साहित्य की मूल थाती है ।

सत्यं शिवम् बन जाता है अर्थात् कल्याणकारी सिद्ध होता है । यजुर्वेद में इसी सत्य को शिवम् के रूप में परिभाषित और विश्लेषित करते हुए कहा गया है कि,

'ओम् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च ।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ।।'[6]

आज का युग विज्ञान का युग है । विज्ञान प्रतिदिन अनेकों चमत्कार से युक्त अविष्कार करता है जिसके कारण आँखे खुली की खुली रह जाती हैं । यद्यपि सर्वत्र विज्ञान और तकनीकी द्वारा आविष्कृत नाना भौतिक वस्तुओं का बोल-बाला है । इनकी चकाचौंध में लगभग वर्तमान सम्पूर्ण समाज यह स्वीकार करने लगा है कि इन्हीं सुख-साधनों की उपलब्धि ही उनके जीवन का परम लक्ष्य है, यही उनका पुरुषार्थ है । इनके अभाव में उनका जीवन अधूरा है, निरर्थक है, अतः इन्हें एकत्रित करने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता एवम् उसकी इति श्री समझने लगे हैं । परन्तु वे कभी इस बात पर ध्यान नहीं देते कि ये वस्तुएं सदा-सर्वदा के लिए नहीं होतीं । आज है, कल नष्ट हो सकती हैं; अतः क्षणिक हैं, शाश्वत नहीं।[7] ये तो वस्तुतः मात्र सांसारिक सुख के कुछ साधन हैं, जीवन के नहीं । फिर भी इनकी खोज में स्वयं को एक मशीन (यन्त्र) बना लिया है और बिना विवेक के विज्ञान के अन्धे दौड़ में प्राकृतिक सम्पदाओं का दोहन करते-करते प्रकृति को विकृत करते जा रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप आज मनव जाति का ही नहीं, अपितु समग्र जड़-चेतन जगत् का स्वरूप विकृत होता जा रहा है । बाह्य पर्यावरण की समस्या, कहीं अधिक ताप तो कहीं अधिक शीत, कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि, कहीं अनेक प्रकार के रोगों और व्याधियों का कहर आदि नाना प्राकृतिक आपदाओं से सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन संकटापन्न हो गया है । जल के अभाव, विपाक्त खाद्य सामग्री के आधिक्य, जीवन के आधारभूत वायु का प्रदूषित होना, जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में असन्तुलन, पृथिवी पर गगनचुम्बी इमारतों का अम्बार, ऑटो मोबाइल की बढ़ती भीड़ आदि के कारण मौसम में आश्चर्यजनक परिवर्तन तथा वस्तु- संग्रह की भूख के कारण सर्वत्र भ्रष्टाचार एवम् आर्थिक विषमता, नैतिकता के अभाव में मानव मूल्यों का हनन, जीवों का शोषण आदि अनेकानेक समस्याओं के कारण मनुष्य का जीवन दूभर होता जा रहा है । आखिर, इनका क्या कारण है? इस बात पर विचार करने से एक ही प्रश्न बार-बार सामने आता है कि आज से कई दशक पूर्व इस प्रकार की समस्याएँ क्यों नहीं थी? प्राकृतिक आपदाएँ तो तब भी होती थीं, पर आज जितनी

नहीं । इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति तब प्रकृति के अनुकूल सामान्य जीवन जीता था । उसकी स्वजनित समस्याएँ भी नहीं थीं, यदि थीं तो स्वल्प मात्रा में ।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि ऐसा क्यों था? अथवा इसका कारण क्या था? इस विषय में मन्थन करने यह सत्य सामने आता है कि इसका मूल कारण हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति और परम्परा थी । प्रकृति के प्रति हमारा प्रगाढ़ प्रेम[8], उसमें दैवी भावना[9], नैतिकता[10], मानवता[11] जीवन के प्रति उदात्त-चिन्तन[12], धर्मार्थ-काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ-चतुष्टय-प्राप्ति का लक्ष्य[13], आध्यात्मिकी भावना[14], सदाचार-पालन[15], कर्मपरायणता[16], पुनर्जन्मवाद[17], सत्यपरिपालन[18], अहिंसा की भावना[19], त्याग की भावना[20], परोपकार[21], तपोमयजीवन[22], मातृ-पितृ-गुरुभक्ति[23] राष्ट्रभक्ति[24], आदि मानवीय गुणों के कारण ही सृष्टि के प्रत्येक घटकों के साथ प्रकृति अपने प्रकृतावस्था में विद्यमान रह सकती हैं; अतः प्रत्येक व्यक्ति में इन गुणों का होना आवश्यक है । ये गुण हमारी भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ माने जाते हैं, जिनकी प्राप्ति एक ऐसे साहित्य से होती है, जो संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं जिसका अध्ययन-अध्यापन परम्परया युग-युगान्तर से होता चला आ रहा है । प्राचीन भारतीय समाज में इस भाषा और इसके साहित्य की प्रतिष्ठा थी । इसीलिए तत्कालीन जनों में अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा और आस्था होने के कारण उपर्युक्त गुणों के आधिक्य से प्रकृति अपने यथार्थ रूप में स्थिर रही और मनुष्य का जीवन सामान्य एवं सुखमय था । परन्तु आज तकनीकी प्रधान इस युग में वह सब हमारा अतीत बनके रह गया है और वर्तमान में उसे जो स्थान या महत्त्व मिलना चाहिए था वह नहीं मिल रहा है, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में आदर्श-जीवन की, सब के सुख की और समता की जो परिकल्पना की गयी है[25], वह आज के अन्धा-धुन्ध विकास में बाधक है । सर्वविध विकास के नाम प हमने अस्त्र-शस्त्र और अन्य अनेकानेक साधन तो अवश्य एकत्रित कर लिए पर नैतिकता और मानवता की दृष्टि से हमारा अधोपतन हो गया है। अर्थार्जन एवम् उसके संग्रह में हम इतने स्वार्थी हो गये हैं कि इस विषय में भारतीय संस्कृति की मर्यादा[26] भी भुला चुके हैं । यही नहीं, हम इतने निम्न-स्तर पर पहुँच गये हैं कि माता-पिता, पिता-पुत्र, बहन-भाई, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य आदि पारिवारिक सम्बन्धों को भी आर्थिक पैमाने पर तौलने लगे हैं । इसका कारण है, अपनी भारतीय संस्कृति का सर्वथा परित्याग । आज मशीनी-शिक्षा के कारण मनुष्य की संवेदनशीलता समाप्त होती जा रही है और उसकी सोच सीमित होकर स्वयं में सिमट सी गयी है । हमें दूसरों के सुख-दुःख से कोई मतलब ही नहीं रह गया है,जब कि हमारी संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त इससे सर्वथा भिन्न हैं ।[27]

सम्प्रति हम उस चिन्तन के पराधीन हो गये हैं, जो हमें स्वहित में संलिप्त करता है और परहित से दूर करता चला जाता है । इस मानसिकता का एकमात्र कारण है उस संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की अवहेलना, जो अपने पूर्वजों की विरासत है तथा जीवन को सुखमय बनाने वाले नाना ज्ञान-विज्ञान के भण्डार से समृद्ध भी है । आज हमारी तथाकथित शिक्षा-नीति में इस भाषा और इसमें निबद्ध साहित्य को महत्त्व न देने के कारण ही अनुशासनात्मक तन्त्र, न्याय-पालिका, व्यापार-प्रबन्धन आदि में भ्रष्टाचार चरम कोटि पर है । धार्मिक असहिष्णुता, जातिगत-मतभेद, आर्थिक असमानता या विषमता, असुरक्षा की भावना, गुणवान का तिरस्कार, योग्यता का अनादर आदि के कारण समाज विखंडित होता जा रहा है । शासन-तन्त्र अर्थकरी न मानता हुआ इस भाषा को समाप्त करने की योजना बनाने में संलग्न है। वे यह जानने का प्रयास नहीं करते कि यह भाषा, तकनीकी की भांति सद्यः अर्थकारी तो नहीं प्रतीत होती, परन्तु इस भाषा के साहित्य में मानव जीवन के वे मूलभूत सिद्धान्त और सदाचार उपदिष्ट हैं, जो व्यक्ति

को अपने पुरुषार्थ में आन्तरिक दृष्टि से इतना सक्षम बना देते हैं कि वह जहाँ भी कहीं नियुक्त होगा, वहाँ अपनी निष्ठा से समग्र मानव जाति के लिए न केवल हितकारी होगा, प्रत्युत निखिल समाज एवं राष्ट्र को समृद्ध बनाने में सहायक भी होगा ।[28] यही नहीं, संस्कृत और इसका साहित्य ऐसे संस्कारों एवं सिद्धान्तों से भरा पड़ा है, जो राष्ट्र को एक आदर्श नागरिक, परिवार को एक अच्छा व्यक्ति तथा समाज को एक सच्चा नायक और राष्ट्र को सुशासन देने में भी महती भूमिका निभाते हैं, क्योंकि श्रुति यह उपदेश करती है कि सत्य-पालन, विकास, निश्चित नियम, उग्रता (कुशलता, दक्षता), दीक्षा (उन्नतिमन्त्र),तप (परिश्रम), मन्त्र (शिक्षा, ज्ञान) और यज्ञ अर्थात् त्याग-भावना के साथ सर्वहितकारी कार्य ही पृथिवी अर्थात् किसी राष्ट्र की रक्षा कर सकते हैं ।[29]

संस्कृत भाषा में लिखे गये कौटिलीय अर्थशास्त्र की आर्थिक नीति, नीतिशतक प्रभृति ग्रंथों में नीतिपरक आदर्श[30], महाभारतोपदिष्ट राजनीति[31], वेदोक्त ईश्वरीय भावना एवम् आस्तिकता[32], औपनिषदिक जीवन-दर्शन एवम् अध्यात्म-चिन्तन[33], धर्मशास्त्रोक्त आचार-पालन[34], पुराणोक्त सांसारिक ज्ञान[35], रामायणोक्त आदर्श एवं शाखा न पत्रम्" । यदि उन्नति होती भी है तो दीर्घकालीन नहीं होती ।

आज तकनीकी युग में भले ही लोग इन मूल्यों की सार्थकता प्रत्यक्षत: नहीं देख पा रहे हैं, परन्तु ह्रासोन्मुख इस समाज में एक न एक दिन पुन: इन मूल्यों की आवश्यकता का अनुभव होगा । तब इस भाषा के महत्त्व को जानकर लोग पुन: इसकी ओर लौटेंगे । इस भाषा में निबद्ध साहित्यिक सामग्री एवं भाषा का स्वरूप शाश्वत है । जीवन को सफल बनाने हेतु धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थो की प्राप्ति इस भाषा में निबद्ध साहित्य से ही हो सकती है । यही साहित्य ईश्वर भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, पञ्चमहायज्ञों आदि की शिक्षा से मानव जीवन को उदात्त बनाता है । तभी तो इतनी पुरानी परम्परा को संजोये हुए यह भाषा आज भी जीवित ही नहीं, प्रत्युत साहित्य को नूतन कृतियों से समृद्ध कर रही है । स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में सर्वाधिक लिखा गया साहित्य इसी भाषा में निबद्ध है । गजल, गीत, मुक्तक आदि विद्या में लिखित प्रभूत साहित्य संस्कृत भाषा को आज भी जीवन्त बनाये हुये हैं, अत: अपनी आर्य-संस्कृति, पारम्परिक ज्ञान एवं पूर्वजों की विरासत जानने के लिए संस्कृत-साहित्य की एक मात्र साधन है । संगीत, ज्योतिष, वास्तु-शास्त्र, स्थापत्य-कला, आयुर्वेद आदि पारम्परिक विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन भी इस भाषा और इसके साहित्य के बिना सम्भव नहीं हैं । यदि किसी को भारतीय संस्कृति का ज्ञान करना हो तो उसे संस्कृत की शरण में आना ही होगा । इसीलिए तो पाश्चात्य विद्वान् भी इसकी ओर आकर्षित हुए थे । अत: यह भाषा अक्षुण्ण है और रहेगी तभी तो कपिल-मुनि ने निम्न शब्दों में इसके वैशिष्ट्य का बखान किया है, जो दैवी होने के कारण मनुष्य में दैवी गुणों का आधान कराती है -

ऋषीणामाद्यानां गहनमननावाप्तसुयशा
श्रुतीनां शास्त्राणां निखिलगुणतत्त्वार्थनिलया ।
पुरातत्त्वाधारा सकलभव-ज्ञानाब्धि विभवा ।
जयेद् दैवी वाणी त्रिभुवनमनोज्ञा बुधप्रिया ।।

पारिवारिक मूल्य[36], महाकाव्यों में संकेतित जागतिक व्यवहार[37], राष्ट्र-प्रेम[38] आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अद्भुत एवम् उदात्त-उत्तम मार्ग प्रदर्शित करने वाला यह साहित्य अपने प्रतिपाद्य के कारण ही चिरकालजयी है ।मानव सृष्टि के साथ अस्तित्व में आने वाली यह भाषा और इसमें लिखा गया साहित्य[39] शाश्वत-मूल्यों की शिक्षा देता है, जिनसे मनुष्य अनन्त काल तक रहने वाली

धन-सम्पदा का स्वामी बनता है । यह साहित्य मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाता है, जिससे उनमें दैवी एवं मानवीय गुणों का विकास होता है और उससे वह सम्पूर्ण मानव जाति का उपकारक होता है, विनाशक नहीं ।[40]

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीधाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्[41], विश्वं भवत्येकनीडम्, मित्रस्य चक्षुसा समीक्षामहे, पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः[42], केवलाघो भवति केवलादी[43], अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा, माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, मातृदेवोभव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव[44], सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः[45] वसुधैव कुटुम्बकम्, अहिंसा परमो धर्मः[46] सत्यमेव जयति नानृतम्[47], वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च[48], कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन[49] इत्यादि जीवन के शाश्वत मूलभूत सिद्धान्तों का उद्घोष करने वाला साहित्य कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकता । वह तो तब तक सार्थक है जब तक यह संसार हैं, अतः जीवन के सार्थक मूल्यों की शिक्षा देने वाली भाषा नगण्य नहीं होनी चाहिए । यही नहीं, यह भाषा संस्कारों की भाषा है, मानवों में गुणाधान करती है, जिससे उनका जीवन सर्वथा दोषरहित हो । इसका साहित्य भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का लिखित दस्तावेज कहा जा सकता है । सुश्रुत-संहिता एवं चरक-संहिता जैसे आयुर्विज्ञान के ग्रंथ, पतंजलि की योग-विद्या[50], वराहमिहिर कासर्वविधविज्ञान का कोशस्वरूप बृहत्संहिता एवं वास्तुशास्त्र, बृहस्पति का विमानशास्त्र आदि ग्रंथ आधुनिक विज्ञान और तकनीकी को भी दिशा निर्देश करते हैं । सभी भाषाओं की जननी यह संस्कृत भाषा व्यक्ति को शब्द-भण्डार से समृद्ध कर उसमें सर्जन-शक्ति तथा शब्दप्रयोग[51] एवं शब्दोच्चारण[52] जैसी भाषा की बहुविध सामर्थ्य भी प्रदान करती है । प्रतियोगिता परीक्षा की दृष्टि से भी इसमें अनेक विषयों का ज्ञान समाहित है, तद्यथा संस्कृत-साहित्य के समुचित ज्ञान से (1) प्राचीन भारतीय इतिहास, (2) भारतीय दर्शन (3) भारतीय संस्कृति के ज्ञान के साथ-साथ, निबन्ध-लेखन हेतु प्रायः सभी विषयों से सम्बद्ध उद्धरण भी प्राप्त होते हैं; अतः इसके पढ़ने से प्रतियोगी को भी सर्वथा लाभ ही मिलता है । यही नहीं, वैज्ञानिक भाषा होने के कारण कम्प्यूटर के लिए भी यह सर्वथा उपयुक्त मानी गयी है । इसके अतिरिक्त इसके साहित्य में वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं सभी वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) के कर्त्तव्य तथा उनकी मर्यादाएं उपदिष्ट हैं, जो भारतीय समाज को एक सूत्र में बांधती हैं[53], अतः संस्कृत भाषा और उसका साहित्य आज भी सर्वथा उपयोगी है यदि आधुनिकता का इसके साथ समन्वय स्थापित कर दिया जाए । बाह्य-संस्कार के लिए आधुनिकता का सहारा लेना तथा अन्तः परिष्कार के लिए इस साहित्य के दैवी विचारों के साथ अन्तःकरण को शुद्ध एवं परिष्कृत कर लेना ही उचित समन्वय होगा, सर्वथा परित्याग नहीं, अन्यथा हम अपने मूल से ही कट जाते हैं, जो भारतीय संस्कृति में अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि उसका विकास अवरूद्ध हो जाता है, यथा - "छिन्ने मूले नैव उद्घोषित करते हैं तथा अनासक्त भाव से कर्म करने को प्रेरित और प्रोत्साहित करते हैं । वास्तव में अनासक्त होकर निःस्वार्थ भा से कर्त्तव्य कर्म करना सहज सरल संभव नहीं है क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास ने व्यवहारिक फलक पर यह घोषित किया है 'स्वारथ लाग करे सब प्रीति, सुर, नर, मुनि यह सबकी रीति' अर्थात् निःस्वार्थ कोई कर्म नहीं होता यदि स्वर्ग और मोक्ष की कामना भी व्यक्ति में है तो उसे हम अनासक्त और निःस्वार्थ नहीं कह सकते हैं । इसलिए प्रत्येक कर्म में हमारी स्वार्थ सिद्धि की कोई न कोई भावना विद्यमान रहती है, निहित रहती है । श्रीमद्भागवत गीता में स्पष्ट कहा गया है -

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः
शरीरय्यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आज भारतीय साहित्य में भारतीय संस्कृति में तथा विशेष रूप से इस कर्त्तव्य कर्म को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता है । कर्त्तव्यहीन मानव का न शरीर स्वस्थ रहता है न मन मस्तिष्क । अतएव व्यक्ति को सतत नियत कर्त्तव्य-कर्म करना चाहिए । अपने कर्त्तव्य कर्म पर चलना चाहिए तथा लोक कल्याणार्थ अपने आत्म तत्त्व का विस्तार करना चाहिए - यही मानव धर्म है, यही युगीन आवश्यकता है और यही लोक धर्म भी है । सामाजिक सेवा ही लोक सेवा है, लोक सेवा ही धार्मिक सेवा है । धार्मिक सेवा ही राष्ट्रीय सेवा है । सर्व कल्याण हेतु व्यष्टि मानव समष्टि मानव बन जाता है - यही वास्तव में शिव का शिव्त्व है और वास्तविक स्वरूप है । सत्कर्म ही शिवत्व की वास्तविक शक्ति है अन्यथा की स्थिति में शिव शिव नहीं अशिव है ।

साहित्य सरसता का तात्पर्य होता है, सौन्दर्य का वाचक होता है और शिवम् का उपासक होता है । सम्प्रति इसी साहित्य-साधना की नितान्त आवश्यकता है । इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं कम्प्यूटराइड प्रगति के परिणामस्वरूप पाश्चात्य संस्कृति आधुनिकतावाद ने भारतीय संस्कृति को विकृत की स्थिति में ला दिया है । भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य दोनों प्रदूषित वातावरण के शिकार हो रहे हैं । साहित्यकारों, साहित्य चिन्तकों एवं साहित्य शुभैषियों को भारतीय पुरातन संस्कृति के अनुसार अद्यतन परिवेश में साहित्य सर्जना की आवश्यकता है ताकि सद्-साहित्य सर्जना सम्भव हो सके ।

संदर्भ सूची :----------

---

1. कर्ण० 61-58
2. पंचतंत्र
3. यजुर्वेद, 32/8
4. मुंडकोपनिषद्
5. मनु० 2/6
6. यजुर्वेद 16-41
7. कठोप०, 1.1.26 :
   तुल० गीता०, 5.22 : आधन्तवन्तः कौन्तेय न तेप् रमते बधः ।।
8. महाभा०, अनु० 58.22.26, 27 : तस्व पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः ....।
   वही, वन०, 207.26-39 श्लोक द्रष्टव्यः ।
   शाकुन्तः, 4.4 : पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं वुष्मास्वपीतेषु याः
   नादत्तेप्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन वा पल्लवम्....इत्यादि ।
9. यजु०, 28.20 : देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो मधुशाखःसुपिप्पलो.....।
10. नीतिश, 75 : निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु.....
    न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।
11. क०, 6.75.14 :पुमान पुमांसं परिपातु विश्वतः, यजु०, 36.18
12. ईशोप, 6-7 : यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
    सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
13. मनु०, 2.224 : धर्मार्थादुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
    अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ।।
    तुल० महा० शा०, 167.2 : धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिताः ।

[14]. ईशोप०, 1 : ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किञ्चजगत्यां जगत् ।
तुल०, ऋ०, 10.90.3-4; गीता., 9.4, 10.39, 42 इत्यादि

[15]. मनु० 1.108 : आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तु०, महा० अनु०, 54.9; कालिकापु०, 86

[16]. गीता०, 2.47-48 : कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः, गीता, 3.8-9 इत्यादि।

[17]. गीता०, 2.27 :जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

[18]. तुल० महाभा०, 74.105 : नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् । मनु० 4.138 : सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । ..... इत्यादि

[19]. महाभा०, आदि०, 11.13 : अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणिभूतां वरः ।

[20]. ईशोप०, 1 :तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मा मृद्यः कस्य स्विद् धनम् । तुल०,
ऋ०, 10.117.6 : केवलाघो भवति केवलादी; गीता०, 3.33 इत्यादि ।

[21]. महा०, अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् । परोपकारः पुण्याय पापाय परमी डनम्। तुल०, वृद्धर्म पु०, पूर्व०, 1.47 : परोपकारो दानं च सर्वदा स्मितभाषणम्।

[22]. महाभा०; शान्ति, 2.50.4 : मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्रयं परमं तपः
मनु०, 11.235 : ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानंतपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

[23]. तै० उप०, 1.11.1 : मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य देवो भव

[24]. यजु०, 22.22 :आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः ।
शूरः ..... ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पातम् ।।
अथर्व०, 12.1.12 : माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
एवं एतदर्थ द्रष्टव्य सम्पूर्ण भूमि सूक्त ।

[25]. गुरु, पु०, 2.35.51 : सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत ।
तुल०, विक्रमो०, 5.25 : सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।।

[26]. अथर्व०, 7.115.1 : प्र पतेतः पापि लेक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पतः ।
तुल०, मनु०, 4.176 : परित्यजेदर्थकामी यौ स्यातां धर्मवार्जितौ ।

[27]. ऋ०, 10.191.2 : सं गच्छवं सं वदध्वं सं धो मनाँसि जानताम्.....।
अथर्व०, 3.30.1-2 : अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शानितवाम् ।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रतो भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।इत्यादि

[28]. अथर्व०, 11.5.4 : ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।

[29]. अथर्व०, 12.1.1 : सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।

[30]. द्रष्टव्य नीतिश, श्लोक संख्या -5, 10, 15, 17, 29, 31, 44, 47, 62, 64, 72, 75 इत्यादि ।

[31]. महाभा०, शान्ति०, 58.16 : सभा०, 5.39; शान्ति०, 69.67-68; 103-30-33; तदेव, शान्ति, 139.73 : उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिपः ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ।। इत्यादि ।

[32]. ऋ०, 1.164.46 : एं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः .....।

[33]. ईशोप०, 1, 2 : कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः .....।

[34]. मनु०, 6.92 : धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। इत्यादि ।

[35]. भाग० पु०, 11.17.21 :अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ।।
तदेव; 7.14.8 :यावज्जठरं भ्रियेत्तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।

[36]. एतदर्थ द्रष्टव्य वाल्मीकिरामायण का बालकाण्ड एवं अयोध्याकाण्ड-गत पारिवारिक सन्दर्भ ।

[37]. रघु०, 1.8 : शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
कुमार०, 4.33 : शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।

[38]. द्रष्टव्य, वाल्मीकि०, रामा०, किष्किन्धाकाण्ड; मेघदूतम्, रघुवंश आदि ।
महाकाव्यों में राष्ट्र-प्रेमविषयक सन्दर्भ ।

[39]. ऋ०, 10.90.7; अथर्व०, 11.7.5

[40]. ऋ०, 10.191.2-4 (संज्ञान सूक्त)

[41]. यजु०, 40.1

[42]. ऋ०, 6.75.14

[43]. ऋ०, 10.117.6

[44]. तैत्ति०, अप०, 1.11-1

[45]. गरु० पु०, 2.35.51

[46]. महाभा०, आदि०, 11.13

[47]. मुण्डको०, 3.1.6

[48]. महाभा०, आदिपर्व, 11.13; पंचतन्त्र, 4.25.7

[49]. गीता०, 2.47

[50]. योग०, 1.29 : यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

[51]. परम्परया : कार्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ।।

[52]. पा० शि०, 31 : सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।
इसके अतिरिक्त द्रष्टव्य, प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रंथ ।

[53]. मनु०, 2.88-92 : इन्द्रियाणां विचरतां विषयायेष्वपहारिषु
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।